

सम्पादकीय

कस्मै देवाय हविषा विधेय

प्रिय मित्रों,

भारतवर्ष को आधुनिक गणतन्त्र बने हुए साठ वर्ष से अधिक समय हो गया। विश्व के इतिहास और वर्तमान स्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए लगता है कि, किसी राष्ट्र के जीवन में यह समय कुछ कम भी नहीं है। परन्तु आज अपनी उपलब्धियों की निरर्थक डींगे हाँकने की बजाय यदि आत्मविश्लेषण और आत्मविलोचन किया जाये तो लगता है कि जैसे हमें सब कुछ शुरू करना है।

सर्वप्रथम सामाजिक पक्ष को देखें तो आज के भारतवर्ष की दशा दयनीय ही नहीं अपितु शोचनीय भी दिखाई देती है। सामाजिक संगठन मात्र नामधारी और सरकारी अनुदान की बाट जोहने वाले असहाय समूहों में परिणत हो गये हैं। संयुक्त परिवार के ध्वस्त हो जाने के बाद व्यक्ति की आत्मपरकता घृणास्पद स्थिति में पहुँच गई है। सामाजिक समरसता के जो तन्तु विभिन्न रूपों में भारतीय समाज की विभिन्नता को एकरूपता में परिवर्तित करते हुए आ रहे थे वे ही छिन्न-भिन्न हो गये हैं। जाति-प्रथा की दीवारें क्रमशः ऊँची और अनुल्लंघ्य होती जा रही हैं तथा पारस्परिकता और अन्योन्याश्रय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को नकारकर विद्वेष, ईर्ष्या और घृणा का आधार बनती जा रही हैं। स्त्री को वाणी, ऐश्वर्य और ज्ञान के साथ-साथ पराक्रम व शौर्य की देवी-स्वरूपा मानने वाले देश में प्रतिवर्ष हजारों स्त्रियाँ दहेज के नाम पर जला दी जाती हैं। सैकड़ों पर सामाजिक-राजनीतिक स्तर के लोमहर्षक अत्याचार सार्वजनिक रूप से दोहराये जाते हैं और करोड़ों चूल्हों के धुएँ के साथ-साथ अपने बेबस आँसुओं को अपने आँचल में छिपाने के लिए बाध्य हैं।

सामाजिक संस्थाएँ अब उत्सव आदि में प्रदर्शन की वस्तु बन कर रह गई हैं। बाल-विवाह, सती-प्रथा, देवदासी-प्रथा, आदि कुरीतियों भारी-भरकम कानूनी प्रावधानों को प्रथा बताकर आज भी विद्यमान हैं। अनेक वृद्धाएं बनारस और मथुरा की धर्मशालाओं में नारकीय जीवन जीने को विवश हैं। सर्वाधिक दुःख की बात यह है कि महिला स्वातन्त्र्य की दुकानदारी करने वाले संगठन भी इन सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध जंग छेड़ने की बजाय इन मुद्दों के राजनीतिक इस्तेमाल की कोशिश करते दिखाई पड़ते हैं। कॉलगर्ल का धन्धा समादृत व्यवसाय बनता जा रहा है। नारी सुरक्षा केन्द्र दलाली और देह-व्यापार के अड्डे बनते दिखाई दे रहे हैं।

इसी के साथ जुड़ा है सांस्कृतिक पहलू। वस्तुतः भारतीय सामाजिक संस्थाएँ मात्र समाज की समरसता के सूत्र का ही काम सम्पादित नहीं करती थीं। इसी कारण इन संस्थाओं के विखण्डन का प्रभाव सामाजिक पक्ष पर नहीं वरन् सांस्कृतिक पक्ष पर भी पड़ा। सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्म, दर्शन तथा धर्म का पाठ पढ़ाने वाले देश में सांस्कृतिक दिवालियापन की हदें पार होती दिख रही हैं। आध्यात्म केवल प्राचीन संस्कृत साहित्य में बचा रह गया है। दर्शन कुछेक विश्वविद्यालयों के मुट्ठी भर छात्रों के पाठ्यक्रम का अंग मात्र है। धर्म आजकल प्रदर्शन, विवाद, प्रचार और राजनीति का बिन्दु बन गया है।

जिस देश में धर्म को किसी पुस्तक, पूजा-स्थान, देवता-विशेष अथवा उपासना-पद्धति की परिधि से बाहर मनुष्य मात्र के जीवन संस्कार तथा आचरण का मानदण्ड बनाया और बताया गया वहीं पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाने के धार्मिक तर्क दिए जाते हैं। पूजा-स्थानों की सुरक्षा और निर्माण के प्रश्नों को राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया जाता है। देवता बनने की होड़ में लोग स्वयं को भगवान घोषित कर रहे हैं। उपासना-पद्धति में विभिन्नता को सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न बनाया जा रहा है, और इससे सर्वाधिक क्षति जीवन संस्कारों और आचरण को हो रही है। भुखमरी, गरीबी और बेरोजगारी से जूझते देश में धार्मिक स्थानों के चढ़ावे बढ़ रहे हैं। धार्मिक केन्द्रों की भव्यता व चकाचौंध दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। धर्म के नाम पर जीवन यापन करने वालों का ऐश्वर्य निरन्तर उन्नति कर रहा है। सम्प्रदायों का सद्भाव नष्टप्रायः है और वैमनस्य तथा संघर्ष का हिस्सा बनते जा रहे हैं।

पाश्चत्य जीवन-शैली ने सम्पूर्ण पीढ़ी को परजीवी तथा परावलम्बी बना दिया है। अग्रजों, पूर्वजों तथा सांस्कृतिक पहचान के मानकों का उपहास तथा निरादर फैशन बनता जा रहा है। अपनी संस्कृति परम्परा, आस्था और विश्वास पर प्रश्न चिह्न लगाने, उसके प्रति अनभिज्ञ तथा श्रेष्ठ बताने की होड़ सी लग रही है। सांस्कृतिक समूहों के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने में निरत दिखाई देते हैं। अनास्था और अविश्वास हमारे जीवन के प्रमुखतम संस्कार बनते हुए दिख रहे हैं।

“वृत्त वत्नेन संरक्षेद” की शिक्षा देने वाले भारतवर्ष में भौतिक उपलब्धियाँ हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन चली है। व्यक्ति की ईमानदारी, निष्ठा तथा कर्तव्यपरायणता चरित्र का मानदण्ड नहीं रह गई अपितु व्यवहार की कमियाँ बन गई। व्यावहारिकता के नाम पर भ्रष्टाचार को जीवन-शैली बना लिया गया है। परिणामस्वरूप धोखा, बेईमानी तथा रिश्वत के दुर्गुणों को यश, प्रतिष्ठा, सामाजिक मान्यता और ऐश्वर्य का साधन मान लिया है।

जिस देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा ऐसी दारुण हो, उसकी राजनीतिक स्थिति कैसी होगी, इसकी कल्पना कोई भी सहज कर सकता है। हजारों साल से एक राजनीतिक प्रशासनिक इकाई न रहने के बावजूद जिस राष्ट्र ने अनेक विदेशी आक्रान्ताओं, लुटेरों और विश्व-विजेताओं से अपनी सांस्कृतिक अखण्डता को बचाकर अक्षुण्ण रखा, जो देश छोटी-छोटी रियासतों तथा परस्पर युद्धरत राजाओं के होते हुए भी एक राष्ट्र बना रहा, वहीं राष्ट्र आज हर मोर्चे पर अलगाववाद और आतंकवाद से जूझ रहा है। कश्मीर वर्षों से धधक रहा है। नक्सलवाद आज सुलगते हुए प्रश्न उत्पन्न कर रहा है। आसाम, त्रिपुरा, नागालैण्ड, मेघालय आदि पूर्वोत्तर राज्यों की स्थिति चिन्ताजनक बनी हुई है। तेलंगाना, बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड, विदर्भ, हरित प्रदेश, बुन्देलखण्ड, पूर्वांचल आदि के नाम से नये राजनीतिक मुद्दे समस्या बनते जा रहे हैं।

राजनीतिक लाभ-हानि को ध्यान में रखकर काम करने वाले समूहों तथा व्यक्तियों ने साम्प्रदायिक उन्माद को फैलाने में कसर बाकी नहीं रखी है। जातिगत विद्वेष ने उन्हें परस्पर असहिष्णु तथा संघर्षरत समूहों में परिवर्तित कर डाला है। आरक्षण, मन्दिर, मस्जिद, मण्डल आदि को मुद्दा बनाने वालों ने समाज को भिन्न-भिन्न समुदायों में बाँट दिया है। कहीं ब्राह्मणवाद का विरोध, कहीं मनु का तिरस्कार, कहीं महात्मा गाँधी को सार्वजनिक मंचों से गाली, कहीं अम्बेडकर के नाम पर सरकारी जमीन पर कब्जा, कहीं गुरुग्रन्थ साहिब की समीक्षा को निन्दा कहकर धार्मिक दण्ड, कहीं अल्पसंख्यकों के हितों के नाम पर तुष्टीकरण, कहीं बहुसंख्यकों को लामबंद करने की

कोशिश, कहीं धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धार्मिक मान्यताओं की सरकारी संरक्षण में निन्दा का मुक्तवाद, कहीं एकता, विकास, सद्भावना के बैनर तले व्यक्तिगत और दलगत आकांक्षाओं की यात्रायें, कहीं आतंकवादियों के परिवारजनों को सांत्वना देते हुए उग्रवादियों से हुई मुठभेड़ों पर प्रश्नचिह्न लगाते निर्लज्ज राजनेता, कहीं फाँसी की प्रतीक्षा में जेलों में निबद्ध आतंकवादियों की क्षमादान की फाइलों पर वर्षों तक अनिर्णय, कहीं आकण्ठ भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्तियों को सत्ता का प्रश्रय, कहीं लोकतंत्र के नाम पर अराजकता का नग्न नृत्य, कहीं न्यायपालिका द्वारा दोष सिद्ध व्यक्तियों के समर्थन में सम्पूर्ण भारतीय न्याय-व्यवस्था का उपहास, कहीं पूर्वाग्रहयुक्त दोषारोपण से व्यक्ति या दल या समूह अथवा सम्प्रदाय विशेष का सायास चरित्रहनन, कहीं अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर निन्दनीय व गर्हित सार्वजनिक प्रस्तुतियाँ, कहीं सम्प्रदाय विशेष के प्रति भावनात्मक संवेदनशीलता के नाम पर प्रगतिविरोधी और प्रतिगामी नीतिनिर्णय, कहीं बाजार के आगे नतमस्तक संचार माध्यम, कहीं सत्ता के गलियारों में दलाली में व्यस्त कॉरपोरेट समाज, कहीं राष्ट्र की अखण्डता के विरुद्ध विषममन करते अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त सामाजिक कार्यकर्ता, कहीं दल-बदल को रोकने के लिए हिंसा को उकसाते राजनीतिक नेता— इन सब दृश्यों से भारतीय राजनीतिक पटल के जुगुत्सा उत्पन्न होती है।

लाखों नागरिक अपने ही देश में शरणार्थी बनकर रह रहे हैं। नदी-जल के बँटवारे के प्रश्न पर राज्यों की जंग नागरिकों में घृणा फैला रही है। सांसदों तथा विधायकों के वेतन-भत्ते और सुविधायें निरन्तर बढ़ रही हैं। मंत्रियों के घोटाले और भ्रष्टाचार में लिप्त होने की घटनायें अब अखबारों की सुर्खियाँ नहीं बनती, वरन् आम बात बन गई है। वीआईपी सुरक्षा के नाम पर करोड़ों रुपये प्रति माह खर्च करने वाले देश का आम नागरिक दिन-प्रतिदिन असुरक्षित और असहाय जीवन जीने को बाध्य है। अपहरण और फिरौती वसूलने के धन्दे अब शहरों के मुख्य व्यवसाय बन गये हैं। आज भी हजारों लोग भूख, बाढ़, लू, सूखे तथा ठंड से मर रहे हैं। जातिगत और साम्प्रदायिक संघर्ष प्रतिवर्ष सैकड़ों की जान लेते हैं। हजारों परिवार आतंकवाद की बलि चढ़ रहे हैं। जनसंख्या-विस्फोट, बेरोजगारी, महँगाई, गरीबी और भुखमरी से निपटने के लिए सारे सरकारी प्रयास व दावे कमजोर साबित हो रहे हैं।

राजनीति अपराधों की खदान और अपराधियों की शरणस्थली बनती जा रही है। लोकतान्त्रिक संस्थाओं का पराभव तथा क्षरण हो रहा है। चुनाव हिंसा तथा धन के बल पर लड़े और जीते जा रहे हैं। दलों ने विचारधारा और कार्यक्रम को धीरे-धीरे छोड़कर तात्कालिक परिणाम की दृष्टि से ओछे हथकण्डे अपना लिए हैं। राजनीतिक नेतृत्व निष्ठा-विहीन, संवेदनशून्य होता जा रहा है। प्रशासन तथा नौकरशाही की स्थिति भी अच्छी नहीं है। वे सुविधा और सुरक्षा के नाम पर जनसामान्य से निरन्तर दूरी बढ़ाते रहते हैं और इस संवाद-हीनता से जन्म लेता है, उनका अविवेकपूर्ण तथा अनुत्तरदायी व्यवहार। वे समाज में एक विशिष्ट वर्ग बन गये हैं, जो उस समूह के बारे में निर्णय निर्माण प्रक्रिया के नियंत्रक है जिसका वह न कभी अंग रहा है और न उस समूह से उसका कोई स्वाभाविक सम्पर्क है।

हमारी व्यवस्थापिका के सदन हंगामे, शोर-शराबे, हाथापाई और दुर्व्यवहार के मंच बनते गये हैं। न्यायपालिका की विश्वसनीयता कम हो रही है। संवैधानिक संस्थायें अपनी निष्पक्षता खोती जा रही है। इस सब में सर्वाधिक असहाय और दयनीय यदि कोई है तो वह है आम नागरिक।

संचार माध्यम भी इस सम्पूर्ण परिदृश्य को ही प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। हमारी फिल्में क्रूर हिंसा, निर्लज्ज अंग-प्रदर्शन, भौंडे संगीत, अश्लील गीत तथा द्विअर्थी संवादों के सन्देश को लेकर आ रही हैं। सरकारी माध्यम एक-पक्षीय तथा स्तुतिगान में रत दिखाई दे रहे हैं। कुछेक अपवादों को छोड़कर राष्ट्रीय समाचार-माध्यम भिन्न राजनीतिक समूहों के पक्षधर लगते हैं। अधिकांश ख्यातिप्राप्त पत्रकार व स्तम्भलेखक राजनीतिक मुद्दों की भीषणता के चलते अपनी निष्पक्षता को संदेहास्पद बना बैठे हैं। छोटे समाचार माध्यम विभिन्न सामाजिक और आर्थिक बुराईयों के प्रस्थान-बिन्दु बनते जा रहे हैं।

साहित्य में भी राजनीतिक दलों के तरह गुटबाजी ओर खेमेबन्दी ने स्थान बना लिया है। मर्यादा की सीमाएँ लॉघना यथार्थवाद और प्रगतिवाद कहा जा रहा है। अपने देश की भाषाओं के साहित्य के बजाय विदेशी भाषाओं के साहित्य की अभिवृद्धि के प्रयास ही अधिक हो रहे हैं। शिक्षा के संस्थान दूषित और संकुचित मनोवृत्ति को बढ़ावा दे रहे हैं। शिक्षा-प्रणाली उन डिग्री धारियों की भीड़ को जन्म दे रही है जो श्रम को उपहास-योग्य तथा तिरस्कार्य समझते हैं। परिणामोन्मुख दृष्टिकोण ने तात्कालिकता को श्रेय बना डाला है। मेरी दृष्टि में यह लोकतान्त्रिक अराजकतावाद है। यह नवीन अवधारणा है। मेरे मित्र और सहयोगी इस विचार की ओर गहन मीमांसा कर सकते हैं।

ये वर्तमान भारतवर्ष के कुछ प्रमुख दृश्य हैं जो गणतन्त्र की पड़ताल करते समय दृष्टिपटल पर अनायास ही आ गये हैं। इन सबके भीतर से आशा की किरण ढूँढना कदाचित् श्रमासाध्य तो है परन्तु असम्भव कदापि नहीं है। अतः इन समस्त द्विविधा और असहाय से आवृत्त क्षणों में सभी पक्षों पर भली भाँति विचारकर हमें यह तय करना शेष है कि “कस्मै देवाय हविषा विधेय”।

(संजीव कुमार शर्मा)